

प्रेस की आजादी आँख-मिचौली के छह दशक



रमेश नैयर

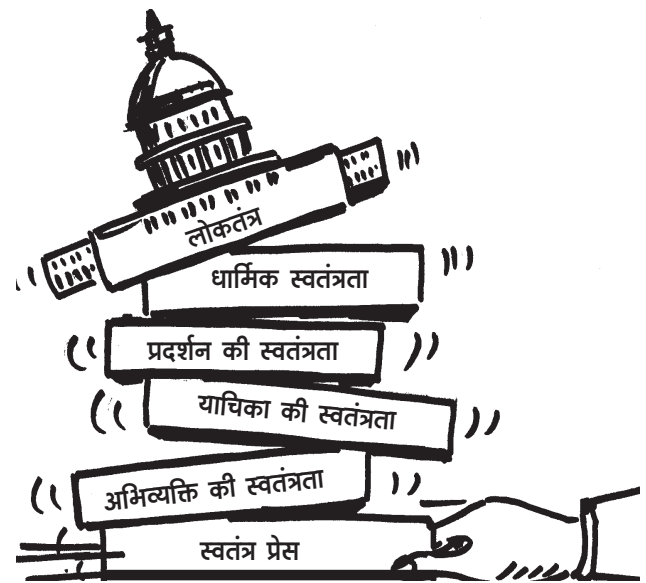
स्वाधीन भारत के पिछले छह दशकों में लोकतंत्र की एक प्रभावी संस्था 'प्रेस' का खूब विस्तार हुआ है। लोकतंत्र की अन्य संस्थाओं की तुलना में प्रेस या खबरपालिका की शक्ति में अधिक वृद्धि हुई है। इसी को लक्ष्य करते हुए भारतीय प्रेस परिषद् के पूर्व अध्यक्ष पीवी सामंत ने कहा था कि देश में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था अब मीडिया बन चुका है। मीडिया अब लोकतंत्र का चौथा नहीं, पहला स्तंभ बन गया है, क्योंकि इसे अन्य तीनों स्तंभों कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका पर टिप्पणी करने का अधिकार है साथ ही जनमत को प्रभावित करने की शक्ति भी उसे प्राप्त है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मीडिया के बिना राजनीति भी नहीं चल सकती।

इससे सहज ही यह धारणा बनती है कि भारत का मीडिया, जिसमें आज भी प्रेस का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, स्वतंत्र है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की कर्हें तो कहीं-कहीं स्वच्छंद भी। यहां एक प्रश्न यह उठता है कि यह स्वतंत्रता वास्तव में है किसकी? शब्द के धनी पत्रकारों की अथवा मीडिया के स्वामित्व की? फिर इस स्वतंत्रता का उपयोग किन मूल्यों और आकांक्षाओं के पोषण के लिए हो रहा है? विचारणीय प्रश्न तो यह भी है कि क्या स्वतंत्रता की पुलक प्रेस की आत्मा को भी स्पंदित करती है, अथवा केवल काया में ही हुलास उपजाती है? मीडिया जिसमें प्रेस भी शामिल है, सूचकोरंजक उद्यम (इंफोटेनमेंट इंडस्ट्री) में ढल चुका है, उसमें मीडिया की आजादी की क्या गत बन रही है और आगे चलकर कैसी बनने वाली है? इसके विवेचन से पहले पिछले छह दशकों पर एक सरसरी नजर डालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

छह दशक पहले भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी घटना घटी थी। 15 अगस्त, 1947 को देश की राजनीतिक आजादी। उस आजादी के लिए चली लम्बी लड़ाई में प्रेस की भूमिका महत्वपूर्ण रही थी, इसलिए भी प्रेस की आजादी को स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने तरजीह दी। व्यावसायिक हितों के लिए समाचार-पत्रों के स्वामियों द्वारा सत्ता से समझौते तो किए जाते रहे, परंतु प्रेस का मूल चरित्र दायित्व बोध का रहा। 1974 में दूसरी आजादी की कल्पना के लिए जयप्रकाश

नारायण के नेतृत्व में लगभग देशव्यापी आंदोलन चला, जिसे प्रेस का समर्थन मिला। 25-26 जून 1975 को देश में आपातकाल लगाने के साथ ही प्रेस पर सेंसरशिप लगा दी गई। नगण्य से अपवादों को छोड़कर प्रेस ने दशहत्त भरे सत्राटे की चादर ओढ़ कर राजसत्ता के समक्ष समर्पण कर दिया। कलमबंदी और जुबानबंदी के डेढ़ वर्ष से अधिक चले उस दौर में प्रेस ने कम्बोबेश अपना पुंसत्व और लोकविश्वास तो खोया ही, कुछेक ने 'चारणकाल' को पुनर्स्थापित कर दिया।

सूरजमुखी पत्रकारों के आचरण पर पाठकों को एक संतप्त विस्मय उस समय भी हुआ जब 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनते ही उनके सुरताल रातों-रात बदल गए। प्रेस की आजादी के साथ यह भी एक अवसरवादी छल था। इस छल में पत्रकारों की भूमिका कम, पत्र स्वामियों की अधिक थी। एक प्रकार से स्वयं प्रेस जगत द्वारा अपनी गरिमा और स्वतंत्रता से आंख-मिचौली का सिलसिला इस बिन्दु से चला जो कालांतर में चुनावी और व्यावसायिक प्रचार को समाचारों का प्रवचक रूप देकर प्रेस के ईमान-धर्म को सेंटीमीटर में नाप देने के पाप तक



भी पहुंचा। कुछ सांत्वनादायक बात यह रही कि इस पाप के प्रक्षालन और आंशिक प्रायश्चित का काम भी प्रेस ने ही किया।

देश की व्यवस्था और समाज के चरित्र में परिवर्तन लाने वाला एक मोड़ भारतीय राजनीति में 1985 में आया, जब संचार क्रांति की ठोस पहल के साथ ही मुक्त अर्थव्यवस्था का मार्ग विकसित करने का मन बनाया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था की खिड़कियां खुलीं। दरवाजे भी कुछ खुले। खुले बाजार की झोली से प्रेस को भी कुछ नियामतें मिलीं। उसने व्यवसाय से उद्योग बनने की दिशा में बड़े कदम उठाए। जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने 'राजनीतिक भ्रष्टाचार' के विरुद्ध एक 'आंदोलन' छेड़ा तो प्रेस का साहस भी बढ़ा। इस 'साहस' का प्रदर्शन बाजार की स्पर्धा में टिकने और आगे बढ़ने के लिए भी आवश्यक था। इसी स्पर्धा ने प्रेस को देह के श्रृंगार के लिए भी लालायित किया। काया के साज-संवार को जब ज्यादा तवज्जो दी जाने लगती है तो मानस को कांतिमान बनाने वाला विचार गौण होने लगता है। तन को संवारने की होड़ में देह की भाषा प्रबल होती गई। स्वच्छंद और अर्धनग्न देह सौष्ठव इस हद तक परोसा जाने लगा कि पाठक-दर्शक उकता रहे हैं। शायर लिख रहा है, "तौबा! तौबा! हुस्न की सप्लाइयां, इश्क को आने लगी उबकाइयां।" क्या यह स्थिति प्रेस की अस्मिता और स्वतंत्रता के साथ बाजार का छल नहीं है?

उसी दौरान मीडिया, विशेषकर समाचारपत्रों के आक्रामक रवैये से क्षुब्ध तत्कालीन प्रधानमंत्री ने प्रेस को अनुशासित करने के लिए एक विधेयक भी तैयार किया, जिसका देश में व्यापक विरोध हुआ। संसद में प्रचण्ड बहुमत होते हुए भी उस समय की केन्द्र सरकार ऐसा कोई विधेयक संसद में रखने का साहस नहीं जुटा पाई। यह प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में खड़े हुए जनमत की विजय थी। यहां इस अप्रिय सत्य को भी स्वीकार करना चाहिए कि जिस प्रेस ने 80 के दशक के प्रथमार्ध में अपनी आजादी को राजसत्ता के हाथों में बंधक नहीं होने दिया, उसी ने रफ़ता-रफ़ता अपनी स्वतंत्रता को चुपके-चुपके बाजार के हाथों थोड़ा-थोड़ा रेहन रखना शुरू कर दिया।

आजादी दरअसल लिखने, बोलने, छापने और दिखाने की स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है। उसका रिश्ता नैतिकता और जीवनमूल्य, व्यक्ति तथा समाज के प्रति दायित्वबोध से भी है। बाजार के प्रभुत्व से इनका क्षरण हुआ है। नैतिकता और दायित्वबोध से कटी हुई स्वतंत्रता उच्छृंखला मानी जाएगी। यही कारण है कि 45 हजार करोड़ का रोजगार प्रतिवर्ष लगभग 20 प्रतिशत का विस्तार कर रहा मीडिया अपनी साख की रक्षा कर पाने में सफल नहीं हो रहा है। उसका दबदबा, कहीं-कहीं आतंक भी बढ़ रहा है, परंतु सम्मान कम हो रहा है। प्रेस के सम्मान के क्षरण में अधिक भूमिका प्रेस के स्वामियों की रही है।

जिस राजनीति के प्रति जनता में विशेष सम्मान का भाव नहीं रह गया है, वह भी अब मीडिया के एक वर्ग के अधम चरित्र को देखकर उस पर गंभीर आरोप लगाने का साहस जुटाने लगी हैं। एक कड़े राज्य की मुख्यमंत्री तो यह कहने का साहस कर बैठीं कि "माफिया, मनी और मीडिया लोकतंत्र के शत्रु हैं।"

तस्वीर कुछ अवसादपूर्ण लगती है, परंतु निराशापूर्ण नहीं, समग्रता में परखें तो प्रेस में आज भी मिशन दायित्वबोध, व्यक्ति एवं समाज की बेहतरी की इच्छा कौंधती है। व्यापक वैश्विक परिदृश्य पर नजर दौड़ाएं तो मीडिया की तीन प्रकार की छवियां सामने आती हैं। एक छवि है मीडिया के आज तक एक मिशन के रूप में काम करते रहने की। दूसरी छवि है एक प्रभावशाली उद्यम की और तीसरी संवेदनशून्य बाजारू ताकतों के हमसफर की, जिसे धन-पिपासुओं का हमबिस्तर होने से भी गुरेज नहीं है। पहली छवि उन मीडिया कर्मियों के द्वारा बनती है जो सच की तह तक पहुंच कर उसे उजागर करने में भारी जोखिम उठाते हैं। अपने दायित्व के निर्वाह के लिए ये मीडियाकर्मी जान की बाजी लगा देने से भी नहीं हिचकिचाते। आतंकवादी संगठनों, निरंकुश राजसत्ताओं, माफिया गिरोहों, उन्मादी प्रपंचों और युद्ध के मोर्चों का प्रत्यक्ष सच पाठकों, दर्शकों एवं श्रोताओं तक पहुंचाने के लिए ये जांबाज सिपाहियों की तरह जान हथेली पर लेकर चलते हैं।

पहली उजली छवि के उदाहरण विश्व के अनेक देशों से मिलते रहते हैं। सन् 2006 में विश्व में एक सौ से अधिक मीडियाकर्मी अपने-अपने मोर्चों पर शहीद हुए। ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जिनमें सत्य की तलाश में जुटे पत्रकारों एवं अन्य मीडियाकर्मियों का अपहरण कर लिया गया। उन्हें अमानवीय यातनाएं दी गईं और बेरहमी से मार डाला गया। कराची में अलकायदा की एक जत्थेबंदी का पता लगाने में जुटे हुए अमेरिकी पत्रकार डेनियल पर्ल की हत्या चर्चित रही है। अक्टूबर, 2007 में म्यांमार में लोक स्वातंत्र्य के लिए प्रदर्शन कर रहे आंदोलनकारियों की वीडियो शूटिंग कर रहे जापानी पत्रकार को वहां की फौजी सत्ता ने गोली से उड़ा दिया। भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी इस प्रकार की पत्रकारिता की मिसालें रह-रह कर मिलती हैं। पंजाब और कश्मीर में आतंकवादी उफान के दौरान 70 से अधिक मीडियाकर्मी शहीद हुए। भारत के छोटे से राज्य छत्तीसगढ़ में जंगल माफिया और बड़े ठेकेदारों, भ्रष्ट अफसरों और बदचलन राजनेताओं से जूझने के कारण कम से कम पांच पत्रकारों की पिछले तीन दशकों में हुई हत्याओं की जानकारी इन पंक्तियों के लेखक को है।

दूसरी श्रेणी उन पत्रकारों की है, जो मुख्यतः आजीविका के लिए मीडिया को अपनाते हैं। इनके कुछ मूल्य और सामाजिक सरोकार भी हैं। पत्रकारिता की इस दूसरी छवि का खूब विस्तार हो रहा है। इस किस्म की पत्रकारिता का स्वामित्व चतुर व्यावसायियों के हाथों में है। ये पत्रकारिता को एक उद्यम के रूप में चलाते हैं। देश और समाज के लिए इनकी निष्ठा भले ही उतनी नहीं होती, जितनी कि अपने व्यावसायिक हितों के प्रति होती है, फिर भी इन्होंने भारतीय पत्रकारिता की काया और चेहरे को निखारा है। आधुनिकतम तकनीकों का उपयोग करते हुए पत्रकारिता के सूचना पक्ष को सबल बनाया। मीडिया में रस का संचार किया है। बौद्धिक लपफाजी के आतंक को कम किया। विचार-विमर्श को स्थान दिया। मनोरंजन पक्ष को महत्व दिया। दूरस्थ गांवों तक अपनी पहुंच बनाई। पाठकों/दर्शकों में फैशन, ग्लैमर और मांसलता को परोसकर अपने उत्पाद की खपत बढ़ाने में अतिरिक्त आकुलता दिखाने के बावजूद ये उनकी जानकारी के क्षितिजों का विस्तार भी कर रहे हैं। स्वास्थ्य और रहन-सहन के प्रति चेतना जागृत करने का काम भी कर रहे हैं। राजनीति और नौकरशाही की विद्रूपताओं को उजागर कर रहे हैं। ये विभिन्न सत्ताओं के आतंक के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, लेकिन वहीं तक जहां तक इनके अपने व्यावसायिक हितों पर कोई बड़ा संकट न आए। इधर एक जमात ऐसी भी फलफूल रही है, जो पत्रकारिता को मुख्यतः धन-संपदा जुगाड़ने का माध्यम बनाने को आतुर है। इनके ज़मीर की लौ का कमजोर पड़ना लोकतंत्र में मीडिया की अपेक्षित भूमिका के क्षरण का सूचक है।

तिजारती चरित्र वाले इन मीडिया श्रेष्ठियों और उनके वफादार अनुचरों की दृष्टि में अखबार महज बाजार में बेची जाने वाली एक जिन्स है- ठीक वैसी ही जैसे कि वियाग्रा की गोली या कंडोम का पैकेट। उनको इस तथ्य का एहसास कराए जाने की जरूरत है कि उनके उत्पाद को, चाहे वह पत्र-पत्रिका हो अथवा कोई टेलिसीरियल, पाठक तथा दर्शक भी उसी नजरिये से देखता है, जिससे वियाग्रा या कंडोम के निर्माता-विक्रेता को देखा जाता है। आंख की अंधी लेकिन गांठ की पूरी इस पत्रकारिता का विस्तार मन को क्लान्त करता है। यह बरबस उजले अतीत का स्मरण कराने के साथ ही भविष्य के खतरों के प्रति भी आगाह करता है। जिस राजनीति के प्रति जनता में विशेष सम्मान का भाव नहीं रह गया है, वह भी अब मीडिया के एक वर्ग के अधम चरित्र को देखकर उस पर गंभीर आरोप लगाने का साहस जुटाने लगी है। एक बड़े राज्य की

मुख्यमंत्री तो यह कहने का साहस कर बैठीं कि 'माफिया, मनी और मीडिया लोकतंत्र के शत्रु है।'

अवसाद की इस स्थिति में फकत दो-ढाई दशक पहले तक पत्रकारिता का वह दौर याद आ जाता है, जब किसी समाचारपत्र में प्रकाशित छोटी सी खबर का भी असर काफी बड़ा होता था। किसी घटना या व्यक्ति के विषय में प्रकाशित समाचार की विश्वसनीयता होती थी। पाठक उस पर भरोसा करते थे। तब पत्रकारिता का नियमन करने वाले जो नियम-कानून थे, वही आज भी प्रभावशील हैं। वस्तुतः कानून के द्वारा पत्रकारिता के आचार-व्यवहार के निर्धारण का न तो समर्थन किया जा सकता है और न ही वैसा करना व्यावहारिक भी होगा। वैसा करना लोकतंत्र के हित में तो कतई नहीं होगा। लेकिन जिस प्रकार से पत्रकारिता और पत्रकार का सम्मान समाज में घटता जा रहा है, और उसकी विश्वसनीयता का क्षरण हुआ है उससे लगता है मीडिया में आत्म-अनुशासन की भावना जागृत होनी चाहिए। यह भी कि उसकी एक घोषित आचार संहिता होनी चाहिए, जिसका उसे निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। वह आचार संहिता कौन बनाए? प्रेस कौंसिल की अपेक्षाओं को मीडिया के लिए आचार संहिता कहा जा सकता है। परंतु उस आचार संहिता को शांति और बाजार का अनुसर बनाता मीडिया, अक्सर अंगूठा दिखाते हुए मिला है। यूं भी भारत में प्रेस कौंसिल एक प्रकार से नख और दंत विहीन है।

सच तो यह है कि आज साहित्य, कला और संस्कृति के साथ ही प्रेस की आजादी भी एक नये खतरे का सामना कर रही है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इस नये किस्म के खतरे के विस्तार में मीडिया एक औजार बन रहा है। यह खतरा है बाजार की निरंतर विस्तृत होती जा रही ताकत का। बाजार की इस शक्ति का एक मोहक सा नाम है भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण। भूमण्डलीकरण की यह ताकत कुछ मायनों में अंधी और बहरी है। इसे न संस्कृति से कोई लगाव है और न ही मनुजता से। विवेकी विचार से इसका कोई सरोकार नहीं है। किसी के भी भाव, दाम या कीमत के बारे में तो यह ताकत बहुत कुछ जानती है परंतु मूल्यों से इसका कोई रिश्ता नहीं है। जिस नये संकट में खबरपालिका फंस गई है उसे गंभीरता से लेना चाहिए। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने भूगोल की सीमाएं तोड़ीं, संस्कृति के रक्षा कवच को कमजोर किया है और शताब्दियों में विकसित मूल्यों को झकझोर कर रख दिया है। संस्कृति को बाजार की वस्तु बनाने वाली भूमण्डलीकरण की शक्ति ने भीड़ की संस्कृति को पनपाया है।



अपने देश को देखें और अपने ताजा इतिहास की पड़ताल करें तो हम पाते हैं कि लंबे समय तक राजनैतिक गुलामी में फंसे रहने के बावजूद हम जीवित रहे। हमारी चेतना जीवित रही। हमारी संस्कृति जीवित और प्राणवान बनी रही। बहुत दूर की बात न भी करें तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व के दौरान भी हमारी सांस्कृतिक चेतना हमें अपने जीवन-मूल्यों की रक्षा की जिजीविषा देती रही। उसके साथ ही हमें औपनिवेशिक संस्कृति से जूझने की शक्ति भी देती रही। यही कारण था कि साम्राज्यवादी शक्तियों की मंसूबे परवान नहीं चढ़ सके। हमारा जो अपना सांस्कृतिक आत्मविश्वास था वह हमें एक राष्ट्र के रूप में सहेज कर रखने में बहुत सहायक हुआ। वह हमें टूटने और टूटकर बिखर जाने से बचाने में सफल हुआ। इसमें भारतीय प्रेस की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही थी।



एक उदाहरण है- जिन बीस उद्योग घरानों ने इस देश के 40 हजार करोड़ दबाए हैं, उनमें से 12 घराने अखबार भी निकालते हैं। यूटीआई घोटाले में छह समाचार पत्र स्वामी भी शामिल पाए गये थे। अखबारों के दाम कम हुए, पर प्रसार की स्पर्धा जैसे-जैसे तीखी होती गई, दाम के साथ समाचार-पत्रों के मूल्य भी कम होने लगे।

बाजार-संस्कृति जब अपने जाल फैलाती है, तो प्रेस के विवेक

को भी चिड़िया की तरह फांसकर अपने पिंजरे में कैद कर लेती है। बाजार-संस्कृति का जाल टेलिविजन, इंटरनेट, व्यापार मेलों, समूह नृत्यों, फिल्मी अंताक्षरियों आदि अनेक तंतुओं से बुना जाता है। व्यक्ति केवल विचारहीन दर्शक तथा मूक श्रोता बनकर रह जाता है। वह चैतन्य नागरिक नहीं बन पाता। हर व्यक्ति अपने आप में एक टापू बन कर सिमट जाता है। अतिरिक्त दुर्भाग्य की बात यह है कि वह अपना वैशिष्ट्य भी खो बैठता है। व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने वाले तत्व गहरी नींद में सो जाते हैं। वह टेलीविजन के सामने बुद्ध बन कर बैठा रहता है और उस से टपकने वाले विज्ञापन, तरह-तरह के सीरियल चुपचाप उसके मन की बुनावटों में दाखिल होते रहते हैं। उनके मुताबिक उसका खानपान, पहचान और बोलचाल का तौर तरीका भी बदलने लगता है। यह अनायास नहीं है कि सभी घरों के बच्चे तथा किशोर लगभग एक जैसे खाद्य उत्पाद, कपड़े तथा सौंदर्य प्रसाधन इस्तेमाल करते दिखते हैं। इसमें प्रेस भी बहुत पीछे नहीं है। अपनी प्रेस भी भारतीय भाषाओं को विकृत करके विदेशी भाषा का अभिषेक कर रही है। बाजारीकरण हर बात और व्यवहार को रोजगार में ढाल देता है, यहां तक कि धर्म, धरोहर और संस्कृति को भी। संस्कृति के नाम से कितनी दुकानें नहीं चल रही हैं? प्रकृति के नाम से भी न जाने कितनी दुकानें और संगठित संस्थान चल रहे हैं? इस तिजारत में न संस्कृति रह पाती है न प्रकृति, पर उनकी नुमाईश अवश्य होती है। दुख की बात यह कि इस दौर में प्रेस भी देश तथा समाज को भूमण्डलीकरण के फैलते अभिशाप से सावधान करने के दायित्व का निर्वाह नहीं कर पा रही है। बल्कि वह भूमण्डलीकरण को विस्तार देने वाली शक्तियों का वाहन बनते जा रही है। वह भी क्या करे? उसे अधिक से अधिक ग्राहक चाहिए और अधिक से अधिक बिकने के लिए जो पूंजीगत संबल जरूरी है, उसके लिए ज्यादा से ज्यादा विज्ञापन चाहिए, चाहे वे फरेब और प्रपंच का जाल फैलाकर जन-समूहों को ठगने वाले गिरोहों के भी कयों न हों। □

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और
छत्तीसगढ़ हिन्दी ग्रंथ अकादमी के संचालक हैं।